International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197
Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 5; September 2017; Page No. 996-998

विश्वबन्धुत्व का मूल है, गीता प्रतिपादित भक्तिमार्ग

डॉ० धर्मपाल
Teacher in Government High school Ramghar Samba Jammu and Kashmir, India

प्रस्तवना

मानव शरीर में अनेक पिपासाएँ सन्निरहित रहती हैं और उन पिपासओं के शमनार्थ मनुष्य अनेक प्रकार के प्रयत्न करता भी है। जिस प्रकार बुभुक्षा के शमनार्थ मानव अन्न ग्रहण करके बुभुक्षा की शन्ति करता है ठीक उसी प्रकार से मनुष्य की जो आध्यात्मिक पिपासा होती है, उसके शमन के लिये उसे भक्तिमार्ग की शरण में जाना पड़ता है। उसी भक्ति के द्वारा मनुष्य अपने मन के अनेक कल्मषों को या दुःखों को दूर करने का प्रयत्न भी करता है। महाभारत में कई स्थानो में वर्णित मिलता है कि गीता में मोक्ष को धर्म बतलाकर वासुदेव श्री कृष्ण ने अर्जुन के मन का मोहज कल्मष दूर कर दिया था। यथा महाभारत आदिपर्व में वर्णन मिलता है –

कल्मषं यत्र पार्थस्य वासुदेवोः महापति।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभि।।[1]

जिस प्रकार से भक्ति के द्वारा मन का कल्मष भारत वर्ष में विद्यमान किसी प्राणी का होता है, ठीक उसी प्रकार विश्व के अनेक अचलों में यथा जर्मनी, इग्लैण्ड, जापान एवं रूस आदि में रहने वाले मनुष्यों के मन का कल्मष भक्ति के द्वारा दूर हो ही जाता है, शायद तभी जिस रूप में अपने ईष्ट की उपासना भारतवर्ष में की जाती है। ठीक उसी रूप में विश्व के अनेक देशों में भी भक्ति मार्ग की गंगा प्रवाहित होती दिखती है। अतएव यह माना जा सकता है कि गीता में प्रतिपादित भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग में से भक्तिमार्ग अपने विशिष्ट विधा में विश्व को एक सूत्र जाल में बाँध ही देता है। गीता में प्रतिपादित तथ्यों के साथ–साथ श्री मद्भागवत पुराण की विषयवस्तु को भी यहाँ रखना समीचीन मालूम पड़ता है। श्रीमद् भागवत पुराण में भक्ति के 9 भेद बतलाये गये हैं। उन सब विद्याओं की अन्विति गीता में प्रतिपादित विषयवस्तु में सन्निहित दिखती है। नवधा भक्ति के विषय में श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णन मिलता है कि –

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनंस्तवनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।।

स्वयं श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – 'मैं तो अव्यक्त हूँ लेकिन फिर भी मैं अपने भक्तों की भावनाओं के लिए कहीं भी किसी भी रूप में मिल जाता हूँ। यह यथा ''मामप्रपद्यते तांस तथैव भजाम्यहम'' जैसे श्रीकृष्ण के वचन से यह बात स्पष्ट भी होती है और मनुष्य चाहे अपने उत्कर्ष प्राप्ति हेतु या दुःखों के निवारण हेतु एक असीम शक्ति में विश्वास तो करता ही है। भले ही उसके अनेक नाम हों। इस रूप में भक्ति का स्वरूप जिस रूप में भारतवर्ष में है, उसी रूप में विश्व के अन्य देशों में भी मिलता है।

अतएव यह माना जा सकता है कि गीता प्रतिपादित भक्ति मार्ग विश्व को एक सूत्र में बाँधता दिखता है। श्रीमद्भागवतगीता में भक्ति, कर्म और ज्ञान योग का समन्त्य है। यही गीता का गौरव है। ध्यानमार्ग साधना का मार्ग है जो ज्ञान कर्म और भक्ति – तीनों में उपादेय है। ध्यान मानसिक क्रिया होने से कर्म से सम्बद्ध है, उपासना भगवान का ध्यान अथवा स्मृति होने से भक्ति से सम्बद्ध है।

गीता में जो ''योग'' शब्द प्रयुक्त हुआ है, इस योग में ध्यान, ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय है। 'योग' का शाब्दिक अर्थ है – ''मिलन'' अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिलन। इतना प्रगाढ़ मिलन कि दोनों दो न रहकर एक हो जावें। भक्तियोग द्वारा भगवद् तत्त्व का सम्यक् ज्ञान और भगवत् प्रवेश होता है।[2]

गीता का भक्तियोग, कर्म और ज्ञानयोग से अनुप्राणित है। भक्तियोग ही गीता का ह्रदय है एवं गीत का सार ही भक्ति है। गीता में जो मधुरता, प्रेम या रस भरा है, वह गीता में प्रतिपादित भक्तिमार्ग का ही परिणाम है। भगवान् के प्रति समर्पित भक्ति करने वाले का ध्यान स्वयं भगवान् ही करते हैं या भक्त के योग क्षेम की चिन्ता भगवान अपने ऊपर ले लेते हैं।[3]

यद्यपि सभी का योगक्षेम भगवान के अनुग्रह पर ही होता है। तथापि उन प्राणियों का कर्म नियामक होता है। परन्तु भगवान् का भक्त पर विशेष अनुग्रह होने के कारण कर्म का प्रभाव मन्द पड़ जाता है।[4] श्रीकृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं कि मेरे अनन्य भक्त का नाश (पतन) नहीं होता है। तथा न ही उसकी दुर्गति होती है।[5] भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गीता में भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और सांसारिक विषय उसे अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी प्रतिक्षण बढ़ने वाली मेरी प्रगल्भ भक्ति के प्रभाव के द्वारा विषयों से पराजित नहीं होता।

जैसे धधकती हुई अग्नि काष्ठ के बड़े ढेर को भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार मेरी भक्ति भी समस्त पापराशि को पूर्णतयाः जला डालती है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि योगसाधना, ज्ञान, विज्ञान, जप, तप, धर्मानुष्ठान, पाठ, त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों–दिन बढ़ने वाली मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति है।

भक्ति उन लोगों को भी पवित्र कर देती है और जातिदोष से भी मुक्त कर देती है जो जन्म से ही चाण्डाल हैं। भक्त का शरीर भक्ति में जब तक पुलकित नहीं हो जाता। चित्त पिघलकर गद्गद् नहीं हो जाता, आनन्द के आँसु आँखों से छलकने नहीं लगते तथा अन्तरंग और बहिरंग भक्ति की बाढ़ में चित्त डूबने नहीं लगता, तब तक शुद्ध भक्ति की कोई संभावना नहीं।

जैसे आग में तपाने पर सोना मैल छोड़ जाता है और अपने शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है, उसी प्रकार भक्तियोग के द्वारा आत्मा कर्म वासनाओं से मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जाती हैं क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ। अनन्यभक्ति इतनी महान है कि

दुराचारी भी यदि निष्कपट रूप से ईश्वर की भक्ति करे तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है।[6] इसलिए इस नश्वर और सुखरहित लोक में मेरी अर्थात् ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए।[7] अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान कहते हैं कि ''अर्जुन''! तुम निरन्तर मुझमें ध्यान लगाओ। मेरा ही भजन कर। सभी क्रियाऐं मुझमें अर्पण कर मुझे ही प्रणाम कर। तू मेरी ही अनन्य भक्ति कर। अपनी आत्मा को मुझमें प्रतिष्ठित कर दे। ऐसी भक्ति भावना से तू मुझे ही प्राप्त होगा।[8]

मुझमें अनन्य भक्ति रखने वाले भक्तों को मैं शीघ्र ही संसार–सागर से उद्धार कर देता हूँ।[9] गीता में चार प्रकार के भक्तों, ज्ञानी, आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी में श्रीकृष्ण ने ज्ञानी भक्त को ही श्रेष्ठ माना है। क्योंकि उसकी मुझमें अनन्य भक्ति होती है। मुझे वह अत्यन्त प्रिय है और उसको भी मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।[10] श्रीमद्भगवद्गीता में अनन्य भक्ति पर बहुत आग्रह है। अनन्य भक्ति से ही भगवद्प्राप्ति और भगवद् स्वरूप का ज्ञान संभव है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानी को अनन्य भक्त और आत्मस्वरूप बताया है। जो भक्त अनन्य भक्ति से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी भगवद् प्राप्ति और साधना की मैं रक्षा करता हूँ।[11]

अनन्य भक्ति से ही ईश्वर का तात्त्विक ज्ञान और प्रत्यक्षदर्शन किया जा सकता है या ईश्वर में प्रवेश करके ईश्वर से एकाकार किया जा सकता है।[12] भगवर्दापण भक्ति से और भगवान का निरन्तर ध्यान करने से साधक को ब्रह्मज्ञान का बोध होने लगता है। इसी बोध से अनन्य भक्ति का उदय होने से भक्त भगवान में प्रवेश कर जाता है।[13] यद्यपि परा भक्ति और पराज्ञान एक ही हैं, और ज्ञान तथा भक्ति का चरमलक्ष्य भी एक भगवदप्राप्ति ही है। गीता निर्गुण भक्ति को अधिक क्लेशयुक्त एवं दुष्कर कहकर जीवधारियों के लिये कठिन मानती है और सगुण भक्ति करने का ही उपदेश देती है।[14] इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान श्री कृष्ण ने सगुण भक्ति मार्ग को ही कर्मयोग और ज्ञानयोग की अपेक्षा सरल और अधिक उपयुक्त बताया है।

भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है कि हे अर्जुन जैसा तुमने मुझे देखा है, वैसा मैं न तो वेदों के द्वारा देखा जा सकता हूँ, न तपस्या के द्वारा, न दान के द्वारा और न यज्ञ के द्वारा ही। पार्थ मेरे इस रूप को यर्थाथ से जानने (देखने) के लिए एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति है। भक्ति के द्वारा भक्त पर भगवान् का अनुग्रह होने लगता है, एवं अनुग्रह से भक्त की शक्ति बढ़ने लगती है।

गीता में ध्यानयोग, ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग तथा श्रवणयोग का उल्लेख मिलता है। परन्तु गीता में कहा गया है कि जिस योग से भगवान् की प्राप्ति होती है वह भक्तियोग ही है। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि –

मन्मना भव मद भक्तो मद्याजीमां नमस्कुरू।
मामेवैव्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।[15]

भक्ति के कारण ही श्रीमद्भगवतगीता को वेदों तथा उपनिषदों का अमृत बताया गया है, यथा –

सर्वोपनिषदोगावोदोग्धागोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्तादुग्धं गीतामृतं महत।।[16]

श्रीमद्भगवत गीता में मध्य के छः अध्यायों में भक्तियोग की महिमा का वर्णन है। कर्मयोग से सत्त्वशुद्धि होती है।[17] सत्त्व से ज्ञान होता है[18] और ज्ञान के निरन्तर ध्यान से अनन्यभक्ति रूप आनन्द की प्राप्ति होती है।

सत्त्व से आनन्द ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु सत्त्व श्रद्धामिश्रित होना चाहिए। श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्''[19] और यह श्रद्धा भक्ति का मूल है। भक्ति ही श्रद्धा का विकास है। इस प्रकार कर्म भक्ति तथा ज्ञान परमानन्द को प्राप्त कराने के साधन हैं। भगवान की कृपा जिस भक्त पर हो जाय और जो भक्त अपने को सम्पूर्णता भगवान के प्रति अनन्यभाव से एकाग्र होकर समर्पित कर दे। वह एकान्त भक्ति से भगवान को प्राप्त कर सकता है। यही भक्तियोग है। इस योग से भक्त इसी जीवन में ईश्वर प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

श्रीमदभगवत् में भक्ति को कल्पतरु का मधुर और सरल फल कहा गया है। इस फल के रस को पीना ही भक्ति प्राप्ति करना हैं वेदान्त दर्शन में भी भक्ति मार्ग को मोक्ष का मार्ग माना गया है। वेदान्तपरिभाषा में कहा गया है कि सगुणोपासना चित्तैकाग्रता के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है।[20] आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने पराज्ञान और पराभक्ति का समन्वय किया है। उसी कारण अद्वैतवेदान्त में भक्ति को सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ है।

देवर्षि नारद के अनुसार जब भक्त अपनी सभी क्रियाओं और चेष्टाओं को भगवान के अर्पित कर देता है तथा उनका विस्मरण होने पर अत्यन्त व्याकुल होना ही भक्ति है।[21] भगवान के प्राप्त हो जाने पर भक्त उन्हीं को देखता है और उन्हीं को सुनता है, उन्हीं की भावना और उन्हीं का चिन्तन करता है यही पराभक्ति है।[22] शाण्डिल्य मुनी के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है क्योंकि ईश्वर में जिसकी सम्यक निष्ठा है वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है।[23]

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में ज्ञानमार्ग को बड़ा कठिन कहा है ''ग्यान पथं कृपान कै धारा'' गीता की तरह ही रामायण में भी भक्ति का विशेष महत्त्व है ज्ञान को तो दीपक की तरह बताया है और भक्ति को मणि की तरह बताया है।[24] ज्ञानमार्ग पर चलने वाला तो अपने साधन का बल मानता है पर भक्त की यह विलक्षणता होती है कि वह अपने साधन का बल मानता ही नहीं हैं। क्योंकि भीतर में अभिमान रहने से भक्ति प्राप्त नहीं होती। जिनका सीधा, सरल स्वभाव है जो भगवान की कृपा पर निर्भर रहते है और प्रत्येक परिस्थिति में आनन्दित रहते हैं। उन्हीं को भक्ति प्राप्त होती है। भजन से बढ़कर मधुर चीज और कोई नहीं है। इसलिये भक्त नित्य निरन्तर भगवान के भजन में मस्त रहते हुये नित्य निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और ईश्वर में प्रेम करते हैं।[25]

भागवतपुराणानुसार भक्ति निर्हेतुक, निष्काम और निरन्तर होनी चाहिए।[26] क्योंकि जब भक्ति किसी हेतु से की जाती है कि हे ईश्वर मुझे अमुक वस्तु की प्राप्ति हो, तब वैदिक यज्ञयागादिक काम्य कर्मों के समान उसे भी कुछ न कुछ व्यापार का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की भक्ति राजसी भक्ति कहलाती है। राजसी भक्ति से चित्त की शुद्धि ही पूरी नहीं होती। चित्त की शुद्धि के बिना आध्यात्मिक उन्नति (मोक्ष) प्राप्ति में अवश्य बाधा आ जायेगी। इसीलिए गीता में भक्तों की चार श्रेणियों का वर्णन किया गया है। उनमें जो कुछ पाने की लालसा से भक्ति करता है वह अर्थार्थी भक्त निकृष्ट श्रेणी का भक्त है। देवर्षि नारद ने इसी भक्ति के ग्यारह भेद किये हैं।[27] गीता में ज्ञानमार्ग को अव्यक्तोपासना कहा है और भक्तिमार्ग को व्यक्तोपासना।[28] इसी अभिप्राय को जानकर भगवान श्री कृष्ण ने अपने व्यक्त स्वरूप की उपासना बताने के पहले गीता में कहा है कि भक्ति का यह मार्ग सभी विद्याओं में और गुह्यों में श्रेष्ठ और अक्षय है।[29] ''गुह्यानां विद्यानां च राजा''।

भगवान् श्रीकृष्ण ने पृथक–पृथक विभाग न कर ज्ञान ही में भक्ति और भक्ति में ज्ञान को गूंथ दिया हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि

भक्ति और ज्ञान में (बुद्धि और प्रेम) में परस्पर विरोध न होकर परमेश्वर के ज्ञान के साथ ही प्रेमरस का भी अनुभव होता हैं श्री मद्भगवत गीता में शरणागत और प्रपति पर ही बल दिया है। श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन को कहते हैं कि तू मुझ में निरन्तर मन लगाये रह, मेरी अनन्य भक्ति कर, मुझे ही सर्वस्व अर्पण कर, मुझे ही प्रणाम कर ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्रिय है। तू सब धर्मों को छोड़कर मेरी अनन्य शरण में आ जा, मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा तू शोक मत कर।[30] मनुष्य श्रद्धामय है, प्रतीक कुछ भी हो परन्तु भक्त की जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह हो जाता है।[31] देवताओं की भक्ति करने वाले देवलोक में, पितरों की भक्ति करने वाले पितृलोक में, और भूतों की भक्ति करने वाले भूतों में जाते हैं, और मेरी भक्ति करने वाले मेरे पास आते हैं।[32]

इस प्रकार अर्जुन रूपी सामान्य मनुष्य को दिये गये उपदेश से गीता में प्रतिपादित विषयवस्तु मानव मात्र के लिये ये उपदेशित करती दिखती है कि विश्व के प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का निवास है इस रूप में जीवात्मा धारी मनुष्य जिस प्रकार अपने मूल अंश परमात्मा से मिलन हेतु व्याकुल रहता है उसी प्रकार यदि विश्व के सभी वर्णों एवं धर्मों के लोग यदि अपने मन में मनुष्यत्व को सन्जोकर सभी से सम्मिलन की अपेक्षा करे, ईर्ष्या भाव को त्याग दें, तो विश्व बन्धुत्व की उनकी परिकल्पना स्वतः सकार हो जायेगी। क्योंकि महर्षि वेद व्याय ने स्वयं लिखा है ''नाहि मानुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।'' और गीता भी ''मानवः मानवो पातु'' की अवधारणा लौकिकों के समक्ष तो रखती ही है।

सन्दर्भ

1. म० भा० आदिपर्व 2/247
2. भा० पु० 7/5/23
3. गीता 11/54, 18/55, 8/22
4. तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहाम्यहम्। गीता 9/22
5. गीता 9/31
6. गीता 6/40
7. गीता 9/30–31
8. गीता 9/33
9. गीता 9/34
10. गीता 12/6–7
11. गीता 9/22
12. गीता 11/45
13. गीता 18/54–55
14. गीता 12/5–8
15. गीता 18/65, 9/60
16. गीता माहात्मय
17. योगिनः कर्म कुवनिर्त संग व्यकत्वाऽत्मशुद्धये। गीता 5/11
18. सत्वात् संजायते ज्ञानम्। 14/17
19. गीता 4/39
20. सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्रतयद्वारा निर्विशोब्रह्म साक्षात्कारे हेतुः।।
21. वे० परिभाषाा, प्रयोजन परिच्छेद
22. तदर्पिताखिलाचरता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। ना० भ० सू० 19
23. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव श्रृणोति, तदेव भावयति, सदेव चिन्तयति। न० भ० सू० 55
24. स भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे। भक्तिसूत्र 1/1/2–3
25. श्रा० च० म० उत्तर काण्ड 117/120
26. महित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
    कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। गीता 10/9
27. अहेतुक्य व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोतमे। भागवत० पु० 3/29/12
28. न० सू० 82
29. गीता 7/1
30. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
    प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।। गीता 9/2
31. गीता 18/65–66
32. गीता 17/3
33. यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
    भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति यद्याजिनोऽपिमाम्।। मैत्र्यु० उ० 4/6